रयणसार

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थ-रचना करने की प्रतिज्ञा
002) सम्यग्दृष्टि कौन ?
003) मिथ्यादृष्टि कौन ?
004) मोक्ष का मूल
005) सम्यग्दृष्टि कैसा होता है ?

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्रीमद्-भगवत्कुंदकुंदाचार्य-देव-प्रणीत
श्री
रयणसार
मूल संस्कृत गाथा
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीरयणसार नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीमद्-भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥
जो न्यूनता विपरीतता अर अधिकता से रहित है ।
सन्देह से भी रहित है स्पष्टता से सहित है ॥
जो वस्तु जैसी उसे वैसी जानता जो ज्ञान है ।
जाने जिनागम वे कहें वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥र.क.श्रा.-42॥
मुक्तिमग के मग तथा जो ललित में भी ललित हैं ।
जो भविजनों के कर्ण-अमृत और अनुपम शुद्ध हैं ॥
भविविजन के उग्र दावानल शमन को नीर हैं ।
मैं नमूँ उन जिनवचन को जो योगिजन के वंद्य हैं ॥नि.सा.-क.१५॥

मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थ-रचना करने की प्रतिज्ञा

णमिदूण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि रयणसारं, सायारणयारधम्मीणं ॥1॥
अन्वयार्थ : मन-वचन-काय की त्रिशुद्धि के साथ (तीर्थंकर) परमात्मा जिन वर्धमान स्वामी को नमन करके सागार (गृहस्थ) व अनगार (साधु) धर्म वालों के लिए रयणसार ग्रन्थ का कथन कर रहा हूँ ॥1॥

सम्यग्दृष्टि कौन ?

पुव्वं जिणेहि भणिदं, जहट्ठिदं गणहरमहि वित्थरिदं ।

पुव्वाइरियक्कमजं तं बोल्लदि जो हु सद्दिट्ठी ॥2॥

अन्वयार्थ : जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह, पूर्व में जिनेन्द्र द्वारा कथित, गणधरों द्वारा विस्तार से ग्रथित तथा पूर्वाचार्यों की क्रमिक परम्परा से जो प्राप्त है, उसका (ही) कथन (व्याख्यानादि) करता है ॥2॥

मिथ्यादृष्टि कौन ?

मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोल्लदे जिणुद्दिट्ठं ।

जो सो होदि कुदिट्ठी, ण होदि जिणमग्गलग्गरवो॥3॥

अन्वयार्थ : जो व्यक्ति मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के बल से जिन उपदेश का स्वच्छन्दव्या (मनमर्जी तरीके से) कथन करता है, वह कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) होता है, उसका कथन जिन-मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति का वचन नहीं होता ॥3॥

मोक्ष का मूल

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणिदं ।

तं जाणिज्जदि णिच्छय-ववहारसरूव-दोभेयं ॥4॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व-रत्न (सब रत्नों का) सार है और मोक्ष रूपी महान् वृक्ष का मूल है । ऐसा कहा गया है । उसे निश्चय व व्यवहार रूप से दो भेदों वाला जानना चाहिए ॥4॥

सम्यग्दृष्टि कैसा होता है ?

भयवसणमलविवज्जिद-संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।

अठ्ठगुणंगसमग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥5॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव ही (सात) भयों, (सात) व्यसनों, (पच्चीस) मलों से रहित होता है, संसार, शरीर व भोगों से विरक्त होता है, आठ गुणों से परिपूर्ण तथा पाँच (परमेठि-) गुरुओं का भक्त होता है ॥5॥

णियसुद्धप्पणुरत्तो, बहिरप्पावत्थवज्जिदो णाणी ।

जिण-मुणि-धम्मं मण्णदि, गददुक्खो होदि सद्दिट्ठी ॥6॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि निज शुद्धात्मा में अनुरक्त रहता है, बहिरात्मा की दशा से रहित (पराङ्मुख) होता है, आत्मज्ञानी होता है, जिनेन्द्र, मुनि और धर्म को मानता है (श्रद्धा रखता है) और दु:खरहित होता है ॥6॥

मयमूढमणायदणं संकादिवसणभयमदीयारं ।

जेसिं चउवालीसे ण संति ते होंति सद्दिट्ठी ॥7॥

अन्वयार्थ : जिनके (आठ) मद, (तीन) मूढ़ताएँ, (छ:) अनायतन, (आठ)शंका आदि दोष, (सात) व्यसन, (सात) भय, (पाँच) अतीचार । ये चौवालीस दोषनहीं होते, वे सद्दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) होते हैं ॥7॥

उहयगुणवसणभयमलवेरग्गादीयारभत्तिऽविग्घं वा ।

एदे सत्तत्तरिया, दंसणसावयगुणा भणिदा ॥8॥

अन्वयार्थ : उभयगुण (आठ-मूलगुण और बारह उत्तरगुण), (सात) व्यसनोंका अभाव, (सात) भयों का अभाव (पच्चीस) मलों का अभाव, (बारह) वैराग्य भावनाएँ,(पाँच) अतीचारों का अभाव, एवं निर्विघ्न (निरतिचार) भक्ति-भावना । ये दार्शनिकश्रावक के सतहत्तर गुण कहे गये हैं ॥8॥

देवगुरुसमयभत्ता, संसारसरीरभोगपरिचत्ता ।

रयणत्तयसंजुत्ता, ते मणुया सिवसुखं पत्ता ॥9॥

अन्वयार्थ : देव, गुरु व शास्त्र के भक्त, संसार, शरीर व भोग के त्यागी, औररत्नत्रय से सम्पन्न वे मनुष्य शिव-सुख (मुक्ति सुख) को प्राप्त करते हैं ॥9॥

दाणं पूया सीलं, उववासं बहुविहंपि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं, सम्म विणा दीहसंसारं ॥10॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व-युक्त (होकर ही) दान, पूजा, शील, (ब्रह्मचर्य), उपवासव अनेक प्रकार के कर्मक्षय की क्रियाएँ मोक्ष-सुख (की हेतु) हैं । किन्तु सम्यक्त्व के बिना(तो) दीर्घ (दुरन्त) संसार (ही) है ॥10॥

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जदिधम्मे तं विणा तहा सोवि ॥11॥

अन्वयार्थ : श्रावक-धर्म में दान व पूजा । ये मुख्य (कर्तव्य) हैं, इसके बिना वेश्रावक (ही) नहीं हैं । मुनि-धर्म में ध्यान व अध्ययन (स्वाध्याय) मुख्य (कर्तव्य) हैं औरइनके बिना वह (मुनि या मुनि-धर्म) भी वैसा ही (अयथार्थ) है ॥11॥

दाण ण धम्म ण चाग ण, भोग ण बहिरप्प जो पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे पडिदो मरिदो ण संदेहो ॥12॥

अन्वयार्थ : जो दान नहीं करता, धर्म नहीं करता, त्याग भी नहीं करता और भोगभी नहीं करता, ऐसा बहिरात्मा (एक) पतंगा (टिड्डा) (जैसा) होता है । वह नि:सन्देहलोभ कषाय की आग में गिरकर मृत्यु को प्राप्त होता है ॥12॥

जिणपूया मुणिदाणं करमदि जो देदि सत्तिरूवेण ।
सम्मादिट्ठी सावयधम्मी सो मोक्खमग्गरओ ॥13॥

अन्वयार्थ : जो यथाशक्ति जिनपूजा करता है और मुनियों को (आहारादि का) दानदेता है, वह श्रावक-धर्म का पालन करनेवाला मोक्षमार्ग में रत या स्थित सम्यग्दृष्टि होता है ॥13॥

पूयफलेण तिलोक्के सुरपुज्जे हवदि सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥14॥

अन्वयार्थ : शुद्ध मन (भावशुद्धि) वाला (श्रावक) पूजा के फल से त्रैलोक्य मेंदेवों का (भी) पूज्य हो जाता है । दान के फल से तीनों लोकों के उत्तम सुख को निश्चित रूपसे भोगता है ॥14॥

दाणं भोयणमेत्ते दिण्णदि धण्णो हवेदि सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं सद्दंसणे किं वियारमण ॥15॥

अन्वयार्थ : जो भोजन मात्र दान देता है या उसके द्वारा दिया जाता है, इतने सेसागार (गृहस्थ श्रावक) धन्य हो जाता है । प्रशस्त दर्शन (जिन-मुद्रा) को देखकर पात्र वअपात्र का विचार (विकल्प) क्या करना? (अर्थात् नहीं करना) ॥15॥

दिण्णदि सुपत्तदाणं विसेसदो होदि भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥16॥

अन्वयार्थ : सुपात्र-दान जो दिया जाता है, (उससे) विशेष रूप से भोगभूमि वस्वर्ग (रूप फल प्राप्त) होता है । और क्रमश: निर्वाण सुख भी (प्राप्त होता) है । ऐसाजिनेन्द्र देव ने बताया है ॥16॥

खेत्तविसेसे काले वविदसुवीयं फलं जहा विउलं ।
होदि तहा तं जाणह पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥17॥

अन्वयार्थ : क्षेत्रविशेष में या कालविशेष में बोया गया बीज जिस प्रकार विपुल फलदेने वाला होता है, उसी प्रकार पात्र-विशेष में दिये गये दान के फल को भी वैसा समझो ॥17॥

इह णियसुवित्तबीयं जो ववदि जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्ज्फलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥18॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित सात विशेष क्षेत्रों में जो अपने समीचीन धनरूपी बीज को बोता है, वह त्रिभुवन का राज्य तथा पंचकल्याणक (से युक्त तीर्थंकरपनाव मुक्ति) । इन फलों का भोग भोगता है ॥18॥

मादु-पिदुपुत्त-मित्तं कलत्त-धण-धण्ण-वत्थु-वाहण-विहवं ।

संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥19॥

अन्वयार्थ : (उत्तम) माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र (स्त्री), धन-धान्य, वास्तु(मकान आदि), वाहन व वैभव और संसार भर के उत्तम सुख । इन सबको सुपात्र-दानका फल जानें ॥19॥

सत्तंगरज्ज्-णवणिहिभंडार-छडंगबल-चउद्दहरयणं ।

छण्णवदिसहस्सित्थि-विहवं जाणह सुपत्तदाणफलं ॥20॥

अन्वयार्थ : सप्ताङ्ग राज्य, नव निधियों का भण्डार, छ: अंगों से सम्पन्न सेना-बल,चौदह रत्न और छियानवे हजार रानियाँ । इस वैभव को सुपात्रदान का फल जानो ॥20॥

सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुशील-सुगुण-सुचरित्तं ।

सयलं सुहाणुहवणं विहवं जाणह सुपत्तदाणफलं ॥21॥

अन्वयार्थ : उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम लक्षण, उत्तम बुद्धि, उत्तम शिक्षा(संस्कारादि), उत्तम प्रकृति (स्वभाव), उत्तम गुण, उत्तम आचरण, समस्त सुखों कीअनुभूति और वैभव । (यह सब) सुपात्रदान के फल हैं । ऐसा जानो ॥21॥

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजदि सो भुंजदे जिणुद्दिट्ठं ।

संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥22॥

अन्वयार्थ : मुनि (आदि सत्पात्रों) द्वारा आहार ग्रहण कर लेने के अनन्तर, अवशिष्टरहे (अन्नादि) का जो आहार ग्रहण करता है, वह संसार के सारभूत सुख और क्रमश:निर्वाण (मोक्ष) के परम सुख को भी भोगता है । यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है ॥22॥

सीदुण्ह-वाउ-पिउलं सिलेसिमं तह परिसमं वाहिं ।

कायकिलेसुववासं जाणिच्चा दिण्णए दाणं ॥23॥

अन्वयार्थ : शीत व उष्ण (ऋतु, समय), (मुनि आदि की)वात, पित्त व कफवाली प्रकृति, परिश्रम, व्याधि, कायक्लेश (शारीरिक पीड़ा) व उपवास (। इन सब)को जानकर (सम्यक् विचार करके ही श्रावक द्वारा) दान दिया जाता है ॥23॥

हिदमिदमण्णं पाणं णिरवज्जेसहिं णिराउलं ठाणं ।

सयणासणमुवयरणं जाणिज्ज देदि मोक्खमग्गरदो ॥24॥

अन्वयार्थ : मोक्षमार्गी (श्रावक) हितकारी व यथोचित परिमित मात्रा में अन्न-पान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन, आसन व (धर्म व संयम के) उपकरण को,उनके औचित्य आदि का ज्ञान प्राप्त करके (ही) देता है ॥24॥

अणयाराणं वेज्जवच्चं कुज्ज जहेह जाणिच्चा ।

गब्भब्भमेव मादा-पिदुच्च णिच्चं तहा णिरालसया ॥25॥

अन्वयार्थ : अनगारों (मुनियों आदि) की (प्रकृति आदि की) जानकारी(समझदारी) के साथ नित्य एवं आलस्यरहित होकर उनकी उसी प्रकार वैयावृत्त्य करनाचाहिए, जिस प्रकार से इस लोक में माता-पिता अपने गर्भ स्थित (बालक) की (सारसएभाल,पोषण आदि) करते हैं ॥25॥

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरूणं फलाण सोहा वा ।

लोहीणं दाणं जदि, विमाणसोहा-सवं जाणे ॥26॥

अन्वयार्थ : सत्पुरुषों द्वारा दिया दान कल्पवृक्ष के फलों की शोभा की तरह (शोभित)होता है, किन्तु लोभी द्वारा यदि दान दिया जाता है तो उसे विमान-शोभा वाले शव (साज-सजावट वाले विमानाकार यान में निकाली गई शोभायात्रा वाले शव) की तरह जानें ॥26॥

जसकित्तिपुण्णलाहे देदि सुबहुगं पि जत्थ तत्थेव ।

सम्मादिसुगुणभायण-पत्तविसेसं ण जाणंति ॥27॥

अन्वयार्थ : (यश-कीर्ति आदि का लोभी) यश-कीर्ति व पुण्य के लाभ हेतुजहाँ-तहाँ बहुत ज्यादा भी दान देता है, किन्तु सम्यक्त्व आदि सशुणों के पात्रों की विशेषताका ज्ञान (ऐसे लोगों को) नहीं होता ॥27॥

जंतं मंतं तंतं परिचरिदं पक्खवादपियवयणं ।

पडुच्च पंचमयाले भरहे दाणं ण किंपि मोक्खस्स ॥28॥

अन्वयार्थ : (इस) पंचम काल में भरत क्षेत्र में यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, परिचर्या(सेवा), पक्षपात-प्रदर्शन, प्रियभाषण । इनके द्वारा प्रतीति (विश्वास) पैदा कर (उनसेप्रभावित होकर) किया गया किसी प्रकार का भी दान मोक्ष का कारण नहीं होता (संसारका कारण होता है) ॥ 28॥

दाणीणं दारिद्दं लोहीणं किं हवदि महइसिरियं ।

उहयाणं पुव्वज्जिदकम्मफलं जाव होदि थिरं ॥29॥

अन्वयार्थ : दानी दरिद्र क्यों हो जाता है और लोभी (दानी) के महान् ऐश्वर्य क्योंहोता है? (उत्तर ।) दोनों के पूर्व-उपार्जित (शुभाशुभ) कर्मों का जो (या जितना-जबतक) फल स्थिर (विद्यमान, उदयप्राप्त) रहता है (तदनुरूप दरिद्रता आदि हैं, दान देना यान देना । ये वहाँ कारण नहीं) ॥29॥

धणधण्णादि समिद्धे सुहं जहा होदि सव्वजीवाणं ।

मुणिदाणादि समिद्धे सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥30॥

अन्वयार्थ : धन-धान्य आदि की समृद्धि होने पर जैसे सभी जीवों को सुख मिलताहै, वैसे ही मुनि-दान आदि की समृद्धि (प्रचुरता) से सुख मिलता है और वह दानादि न होतो दु:ख मिलता है ॥30॥

पत्त विणा दाणं य सुपुत्त विणा बहुधणं महाखेत्तं ।

चित्त विणा वय-गुण-चरित्तं णिक्कारणं जाणे ॥31॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सुपुत्र के बिना बहुत सारा धन तथा बड़े-बड़े क्षेत्र (बहुतसारी जमनी-जायदाद) निरर्थक हैं तथा भाव के बिना व्रत, गुण व चारित्र का पालन भीनिरर्थक होता है, उसी प्रकार सत्पात्र के बिना दान देना भी निरर्थक होता है ॥31॥

जिण्णुद्धार-पदिठ्ठा-जिणपूया-तित्थवंदणवसेसधणं ।

जो भुंजदि सो भुंजदि जिणदिठ्ठं णरयगदिदुक्खं ॥32॥

अन्वयार्थ : जीर्णोद्धार, प्रतिठा, जिनपूजा, तीर्थवन्दना (तीर्थयात्रा) । इन कार्यों के (लियेदान की गई सम्पत्ति आदि के) अवशिष्ट धन को जो भोगता (अपने लिये उपयोग करता) है, वहनरक-गति के दु:ख को भोगता अर्थात् उपार्जित करता है । ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥ 32॥

पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो ।

चांडालादिकुजादो पूयादाणादिदव्वहरो ॥33॥

अन्वयार्थ : पूजा व अन्य दान आदि के द्रव्य को हरण करने वाला व्यक्ति पुत्र वस्त्री से हीन, दरिद्र, गूंगा, बहरा व अन्धा एवं चाण्डाल आदि नीच जातियों में जन्म लेता है ॥33॥

इच्छिदफलं ण लब्भदि, जदि लब्भदि सो ण भुंजदे णियदं ।

वाहीणमायरो सो, पूयादाणादिदव्वहरो ॥34॥

अन्वयार्थ : पूजा-दान आदि (निर्माल्य) द्रव्य का हरण करने वाला इच्छित फलको प्राप्त नहीं करता और यदि करता भी है तो उसका भोग नहीं कर पाता । यह निश्चित है ।वह व्याधियों का घर बन जाता है (अर्थात् उसे अनेक व्याधियाँ घेर लेती हैं) ॥34॥

गदहत्थपादणासिय-कण्णउरंगुल विहीण दिठ्ठीए ।

जो तिव्वदुक्खमूलो, पूयादाणादिदव्वहरो ॥35॥

अन्वयार्थ : पूजा-दान आदि से सम्बन्धित द्रव्य को हड़पने वाला हाथ, पाँव,नाक, कान, छाती, अएगुलियों से रहित तथा दृष्टिहीन (भी) होता है, जो (वैसा होना)उसके लिए तीव्र दु:ख का (ही) कारण बनता है ॥35॥

खय-कुठ्ठ-मूल-सूला लूय-भयंकर-जलोयरक्खिसिरो ।

सीदुण्हवाहिरादी पूयादाणंतरायकम्मफलं ॥36॥

अन्वयार्थ : क्षय (तपेदिक), कोढ़, मूल, शूल, लूता (दंश), भगंदर, जलोदर,और नेत्र व शिर के रोग, शीत-उष्ण (ज्वर आदि अनेक)

व्याधियाँ । ये पूजा व दान (यापूजा-सम्बन्धी दान आदि) के शुभ कामों में विघ्न करने के कर्म-फल हैं ॥36॥

णरइ-तिरियाइ-दुगदी, दारिद्द-वियलंग-हाणि-दुक्खाणि ।
देव-गुरु-सत्थवंदण-सुदभेद-सज्झायविघणफलं ॥37॥

अन्वयार्थ : देव-वन्दना, गुरुवन्दना, शास्त्र-वन्दना एवं श्रुतज्ञान के भेद रूपस्वाध्याय । इनमें विघ्न डालने के फल हैं । नरक गति, तिर्यर् गति (आदि) दुर्गति,दरिद्रता, विकलाङ्गता, (सर्वविध) हानि एवं दु:ख ॥37॥

सम्मविसोही-तवगुण-चारित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं ।
भरहे दुस्समयाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥38॥

अन्वयार्थ : (इस) भरत (क्षेत्र) में दु:षमा (नामक पञ्चम) काल में मनुष्यों केनिश्चय ही सम्यग्दर्शन-विशुद्धि, तप, मूलगुण, चारित्र, सम्यग्ज्ञान व दान (की प्रवृत्ति) ।इनमें हीनता होती है ॥38॥

ण हि दाणं ण हि पूया ण हि सीलं ण हि गुणं ण चारित्तं ।
जे जइणा भणिदा ते णेरइया कुमाणुसा तिरिया ॥39॥

अन्वयार्थ : जो (लोग) दान नहीं देते, पूजा नहीं करते, शील नहीं पालते, मूलगुणव चारित्र से रहित हैं, वे (भावी जन्म में) नारकी, खोटे मनुष्य व तिर्यर् होते हैं । ऐसायति (जिनेन्द्र देव) ने कहा है ॥39॥

ण वि जाणदि कज्जमकज्जं, सेयमसेयं य पुण्णपावं हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥40॥

अन्वयार्थ : जो लोग सम्यक्त्व से रहित होते हैं, वे लोग कार्य-अकार्य,श्रेय-अश्रेय,तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म (के अन्तर) को नहीं जानते हैं ॥40॥

ण वि जाणदि जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥41॥

अन्वयार्थ : जो लोग सम्यक्त्व से रहित होते हैं, वे योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय,सत्य-असत्य तथा भव्य-अभव्य (के अन्तर) को नहीं जानते ॥41॥

लोइयजणसंगादो होदि महामुहिरकुडिलदुब्भावो ।
लोइयसंगं तम्हा जोइवि तिविहेण मुच्चाहो ॥42॥

अन्वयार्थ : लौकिक (संसार-अनुरक्त) लोगों की संगति से अत्यधिक मुखरतातथा कुटिल दुर्भाव पैदा होते हैं, इसलिए समझ बूझकर मन, वचन व काय से इसे (लौकिक-संगति को) त्याग दें ॥42॥

उग्गो तिव्वो दुो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो ।
दुम्मदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्म-उम्मुक्को ॥43॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य उग्र, तीव्र, दुष्ट स्वभाव वाला है, खोटी भावनाएँ करतारहता है, तथा जो मिथ्याज्ञानी, दुष्टभाषी,मिथ्या मद में अनुरक्त और धर्म-विरोधी होता है, वहसम्यक्त्व से रहित है ॥43॥

खुद्दो रुद्दो रुठ्ठो अणिठ्ठपिसुणो सगव्वियोसूयो ।
गायण-जायण-भंडण-दुस्सणसीलो दु सम्म-उम्मुक्को ॥44॥

अन्वयार्थ : जो क्षुद्र, रुद्र, रुष्ट, अनिष्टकारी चुगली करने वाला, घमंडी व ईर्ष्यालुहो, गाना-बजाना, माँगना और लड़ाई-झगड़ा करने वाला हो और जो दोष-स्वभावी हो, वहसम्यक्त्व से रहित (है या हो चुका) है ॥44॥

बाणर-गद्दह-साण-गय-बग्घ-वराह-कराह ।
मक्खि-जलूय-सहाव णर जिणवरधम्मविणास ॥45॥

अन्वयार्थ : जो व्यक्ति बन्दर, गधा, कुत्ता, हाथी, बाघ, शूकर, कछुआ और मक्खी वजोंक के स्वभाव वाला होता है, वह जिनेन्द्र देव के धर्म का विनाश करने वाला होता है ॥45॥

सम्म विणा सण्णाणं सच्चरित्तं ण होदि णियमेण ।

तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किठ्ठमिदि जिणुद्दिठ्ठं ॥46॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व न हो तो नियम से न तो सम्यग्ज्ञान होता है और न सम्यक्चारित्र ही होता है । इसलिए रत्नत्रय में सम्यक्त्व गुण की उत्कृष्टता (निर्विवाद) है । ऐसाजिनेन्द्र देव द्वारा कहा गया है ॥46॥

कुतव-कुलिंगि-कुणाणी-कुवयकुसीले कुदंसण-कुसत्थे ।

कुणिमित्ते संथुय थुई पसंसणं सम्महाणि होदि णियमं ॥47॥

अन्वयार्थ : मिथ्यातप, मिथ्यावेषधारी, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याव्रत, मिथ्याशील(चारित्र), मिथ्यादर्शन, मिथ्याशास्त्र एवं झूठे निमित्त । इनका संस्तवन, तथा इनकी स्तुतिव प्रशंसा करना । इनसे नियमत: सम्यक्त्व-हानि होती है ॥47॥

तणुकुठ्ठी कुलभंगं कुणदि जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।

दाणाइसुगुणभंगं गदिभंगं मिच्छमेव हो कठ्ठं ॥48॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार शरीर में कोढ़ हो जाने पर, व्यक्ति अपने कुल का हीभंगकर लेता है (अर्थात् अपने कुल के लोगों से स्वत: परित्यक्त होकर कुलहीन हो जाताहै), उसी प्रकार मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति अपने आत्मीय (गुणों के) कुल को भग्नकर देता है,दान आदि सद्गुणों का भी नाश कर लेता है और सद्गतियों का भी नाशकर लेता है । अहो!मिथ्यात्व (कितना) कष्टदायी है! ॥48॥

देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्तं तवायारमोक्खगदिभेयं ।

जिणवयण सुदिठ्ठि विणा दीसदि किं जाणदे सम्मं ॥49॥

अन्वयार्थ : देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तप, आचार व मोक्ष गति के रहस्य कोएवं जिन-वाणी (के रहस्य) को सम्यग्दर्शन के बिना अच्छी तरह क्या देखा, जाना जासकता है? (अर्थात् नहीं) ॥49॥

एक्क खणं ण वि चिंतदि मोक्खणिमित्तं णियप्पसब्भावं ।

अणिसि विचिंतदि पावं बहुलालावं मणे विचिंतेदि ॥50॥

अन्वयार्थ : (वह सम्यक्त्वहीन जीव) मोक्ष-प्राप्ति के निमित्तभूत आत्म-स्वभावका एक क्षण भी चिन्तन नहीं करता । (वह तो) दिनरात पाप का चिन्तन करता रहता हैऔर मन में बहुत कुछ बोलता और सोचता रहता है ॥50॥

मिच्छामदि मदमोहासवमत्तो बोल्लदे जहा भुल्लो ।

तेण ण जाणदि अप्पा, अप्पाणं सम्मभावाणं ॥51॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि जीव मद व मोह रूपी आसव से मत्त, उन्मत्त होकर, (स्वयंके भान से रहित) भुलक्कड़ व्यक्ति की तरह बोलता है, इस कारण वह स्वयं अपनी आत्मा(और उस) के साम्य भाव को नहीं जानता (वह उससे अपरिचित ही रहता है) ॥51॥

पुव्वठ्ठिद खवदि कम्मं पविसुदु णो देदि अहिणवं कम्मं ।

इहपरलोयमहप्पं देदि तहा उवसमो भावो ॥52॥

अन्वयार्थ : (मोहनीय कर्म का) उपशम भाव, पूर्व में स्थित कर्मों का क्षय करताहै और नये कर्म को प्रविष्ट नहीं होने देता । इस प्रकार यह उपशम भाव अपने इहलौकिक वपारलौकिक दोनों प्रकार के माहात्म्य को प्रकट करता है ॥52॥

सम्मादिठ्ठी कालं वोल्लदि वेरग्गणाणभावेहिं ।

मिच्छादिठ्ठी वांछा-दुब्भावालस्सकलहेहिं ॥53॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव वैराग्य व ज्ञानमय भावों द्वारा समय बिताता है, किन्तुमिथ्यादृष्टि जीव का समय विषयों की अभिलाषा, दुर्भावों, आलस्य व कलह (लड़ाई-झगड़े आदि) द्वारा बीतता है ॥53॥

अज्ज्वसप्पिणि भरहे पउरा रुद्दठ्ठज्झाणया दिठ्ठा ।

णठ्ठा दुा कठ्ठा पापिठ्ठा किण्ह-णील-काओदा ॥54॥

अन्वयार्थ : वर्तमान अवसर्पिणी काल एवं भरत क्षेत्र में प्रचुर संख्या में रौद्रध्यानी,आर्तध्यानी, (सम्यक्त्व से) नष्ट, दुष्ट (दूषित विचार वाले), कष्ट से ग्रस्त, पापी, तथाकृष्ण, नील व कापोत । इन तीन अप्रशस्त लेश्या वाले देखे जाते हैं ॥54॥

अज्ज्वसप्पिणि भरहे पंचमयाले मिच्छपुव्वया सुलहा ।
सम्मत्तपुव्व सायारणयारा दुल्लहा होंति ॥55॥
अन्वयार्थ : वर्तमान अवसर्पिणी काल के पंचम काल में इस भरत क्षेत्र मेंमिथ्यात्वयुक्त जीव सुलभ हैं और सम्यक्त्वयुक्त मुनि व गृहस्थ (दोनों) दुर्लभ हैं ॥55॥
अज्ज्वसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदोत्ति ।
होदित्ति जिणुद्दिट्ठं ण हु मण्णइ सो हु कुद्दिठ्ठी ॥56॥
अन्वयार्थ : आज (भी) अवसर्पिणी काल में (इस) भरत क्षेत्र में धर्मध्यानप्रमादरहित के होता है । ऐसा जो नहीं मानता, वह कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) है । ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥56॥
असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ ।
दुहसुहभावं जाणदु जं ते रुच्चेद तं कुज्ज ॥57॥
अन्वयार्थ : अशुभ भाव से नरकायु प्राप्त होती है और शुभ भाव से स्वर्ग-सुख व(देव)-आयु प्राप्त होती है । सुख व दु:ख के (कारणभूत) भावों को जानो और जो तुम्हेंअच्छा लगे, वह करो ॥57॥
हिंसादिसु कोहादिसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु ।
मच्छरिदेसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेस्सेसु ॥58॥
विकहादिसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्टदि असुहभावो सो ॥59॥
अन्वयार्थ : हिंसा आदि में, क्रोध आदि में, मिथ्या ज्ञान में, पक्षपात (पूर्ण विचारोंया एकान्तवादों) में, मात्सर्य में, मदों में, दुरभिमानों में, अशुभ लेश्याओं में, विकथाओं में,रौद्र व आर्तध्यान में, ईर्ष्या व डाह में, असंयमों में, शल्यों में और मान-बड़ाई में जो भाव(आत्मीय परिणाम) रहता है, वह (सब) अशुभ भाव है ॥58-59॥
दव्वत्थिकाय-छप्पण तच्चपयत्थेसु सत्तणवगेसु ।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥60॥
रयणत्तयस्सरूवे अज्जकम्मे दयादिसद्धम्मे ।
इच्चेवमाइगे जो वट्टदि सो होदि सुहभावो ॥61॥
अन्वयार्थ : छ: द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, बन्ध व मोक्ष,उसके कारण रूप बारह अनुप्रेक्षाओं, रत्नत्रय स्वरूप आर्यकर्म व दया आदि सद्धर्म ।इत्यादि में जो स्थित रहना है, वह सब शुभ भाव है ॥60-61॥
सम्मत्तगुणाइ सुगदि(दी), मिच्छादो होदि दुग्गदी णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा, जं रुच्चदि तं कुज्जहो ॥62॥
अन्वयार्थ : सम्यक्त्व गुण से निश्चित ही सुगति प्राप्त होती है और मिथ्यात्व सेदुर्गति । इसे जानो । अधिक क्या कहें, अब जो तुम्हें अच्छा लगे, उसे करो ॥62॥
मोह ण छिज्जिद अप्पा, दारुणकम्मं करमदि बहुवारं ।
ण हु पावदि भवतीरं, किं बहुदुक्खं वहेदि मूढमदी ॥63॥
अन्वयार्थ : (जब तक कोई) आत्मा मोह मिथ्यात्व का भेदन नहीं करता, औरअनेक बार दारुण कर्म (कायक्लेश व्रत, उपवास आदि) करता है, (वह) मूढ़मति संसारका पार नहीं प्राप्त कर सकता है, वह क्यों अनेक दु:ख उठा रहा है? (क्यों नहीं मिथ्यात्वको छोड़ देता?) ॥63॥
धरियउ बाहिरलिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि ।
करियउ किरियाकम्मं, मरियउ जम्मियउ बहिरप्प जीवो ॥64॥
अन्वयार्थ : बाह्य वेश को धारण कर तथा बाह्य इन्द्रिय-सुख का त्यागकर, क्रिया-काण्डको करता हुआ भी बहिरात्मा जीव (यूं ही) मरता

है और जन्मता है (मुक्ति नहीं प्राप्त करता) ॥64॥
मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेदि परलोयदिट्ठि तणुदण्डी ।
मिच्छाभाव ण छिज्ज्इ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥65॥
अन्वयार्थ : उस (मिथ्यादृष्टि) की दृष्टि तो परलोक (के सुखों) पर रहती है, वह(मात्र) शरीर को क्लेश देता हुआ मोक्ष के निमित्त से दु:ख सहन करता है, (किन्तु) मिथ्यात्वभाव का उच्छेद किये बिना मोक्ष का सुख क्या प्राप्त कर पाता है? (अर्थात् नहीं) ॥65॥
ण हु दंडदि कोहादिं, देहं दंडदि कहं खवदि कम्मं ।
सप्पो किं मुवदि तहा वम्मीए मारिदे लोए ॥66॥
अन्वयार्थ : जो (बहिरात्मा जीव) देह को तो दण्ड (क्लेशादि) देता है, किन्तु क्रोधआदि (कषायों) को दंडित (क्षीण, कृश) नहीं करता, (भला) वह कर्मक्षय किस प्रकार करेगा?लोक में सांप के बिल को मारने से (कहीं) सर्प मरता है क्या? वही स्थिति यहाँ है ॥66॥
उवसमतवभावजुदो णाणी सो ताव संजदो होदि ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होदि सो ताव ॥67॥
अन्वयार्थ : (मोह के) उपशम (रूप सम्यग्दर्शन) तथा तप-भाव से युक्त ज्ञानीतो (भाव) संयत होता है । किन्तु कषायों के वशीभूत हुआ वह ज्ञानी तो 'असंयमी' होताहै ॥67 ॥
णाणी खवेदि कम्मं णाणबलेणेदि बोल्लदे अण्णाणी ।
वेज्जे भेसज्ज्महं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥68॥
अन्वयार्थ : अज्ञानी कहता है कि ज्ञानी ज्ञान-बल से कर्मों का क्षय कर लेता है ।(किन्तु) 'मैं औषधि जानता हूँ' मात्र इतने से व्याधि (क्या) नष्ट होती है? (अर्थात् नहींहोती) ॥68॥
पुव्वं सेवदि मिच्छामलसोहणहेदु सम्मभेसज्ज् ।
पच्छा सेवदि कम्मामयणासण चरिय सम्मभेसज्ज् ॥69॥
अन्वयार्थ : मिथ्यात्व-मल का शोधन करने हेतु सम्यक्त्व रूपी औषध का सेवनकिया जाता है, उसके बाद कर्म-रोग नष्ट करने वाली सम्यक्चारित्र रूपी औषध का सेवनकिया जाता है ॥69॥
अण्णाणीदो विसयविरत्तादो होदि सयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिठ्ठं ॥70॥
अन्वयार्थ : विषय-विरक्त अज्ञानी की अपेक्षा वह ज्ञानी लाख गुना (सफल)होता है जो विषय-आसक्त (विषय-सेवन करता हुआ) भले ही (दृष्टिगोचर) हो, किन्तुकषायों से विरत हो । ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है ॥70॥
विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोदणं विणा णेहं ।
चागो वेरग्ग विणा एदेदो वारिदा भणिदा ॥71॥
अन्वयार्थ : भक्ति से विहीन विनय, स्नेह-रहित महिलाओं का रोना, और वैराग्यके बिना त्याग । इस प्रकार ये निषिद्ध बताये गये हैं ॥71॥
सुहडो सूरत्त विणा महिला-सोहग्गरहिय-परिसोहा ।
वेरग्गणाणसंजमहीणा खवणा ण किंपि लब्भंते ॥72॥
अन्वयार्थ : शूरता के बिना सुभट (योद्धा शोभित नहीं होता), सौभाग्य-रहित(विधवा) महिला शोभित नहीं होती, (उसी तरह) वैराग्य, ज्ञान व संयम से रहित क्षपण(मुनि) कुछ भी प्राप्त नहीं करते ॥72॥
वत्थुसमग्गो मूढो, लोही लब्भदि फलं जहा पच्छा ।
अण्णाणी जो विसयासत्तो लहदि तहा चेवं ॥73॥
अन्वयार्थ : (धनादि) समग्र वस्तुओं से समृद्ध मूढ़ व लोभी व्यक्ति जिस प्रकारबाद में (दु:खादि अशुभ) फल को प्राप्त करता है, उसी तरह विषयासक्त अज्ञानी भी बादमें (कुत्सित) फल प्राप्त करता है ॥73॥
वत्थुसमग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहदि ।

णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहदि तहा चेव ॥74॥

अन्वयार्थ : (धन-धान्यादि) पदार्थों से समृद्ध ज्ञानी सुपात्रदान देकर जैसा (प्रशस्त) फल प्राप्त करता है, वैसा ही (सुफल) विषयों का त्याग करने वाला ज्ञान-समृद्ध व्यक्ति प्राप्त करता है ॥74॥

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं ।

चागो वेरग्ग विणा एदे दोवारिया भणिया ॥75॥

अन्वयार्थ : जमीन-जायदाद, कामिनी, कंचन आदि का लोभ रूपी कैसा भी विषधर साँप हो, उसे सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान व वैराग्य रूपी औषधि या मन्त्र से (वश में किया जा सकता है) । यह जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥75॥

पुव्वं जो पंचिंदिय-तणु-मण-वचि-हत्थ-पायमुंडाओ ।

पच्छा सिरमुंडाओ सिवगदिपहणायगो होदि ॥76॥

अन्वयार्थ : जो (साधु) पहले पाँचों इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, हाथ-पांव को मुँडाता है (प्रभावहीन करता है), बाद में सिर मुँडाता है (केशलोच करता है), वही मोक्षमार्ग का नेता (अग्रगामी) बनता है ॥76॥

पदिभत्तिविहीण सदी भिच्चो जिणसमयभत्तिहीणजइणो ।

गुरुभत्तिहीणसिस्सो दुग्गदिमग्गाणुलग्गओ णियदं ॥77॥

अन्वयार्थ : पति (भर्ता) की भक्ति से रहित सती (सन्नारी) और (स्वामी कीभक्ति से रहित) नौकर, गुरु-भक्ति से रहित शिष्य, और (उसी तरह) जिनेन्द्र देव व उनकेसिद्धान्त के प्रति भक्ति से रहित जैन (ये) नियमत: दुर्गति-मार्ग में संलग्न हैं॥77॥

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं ।

ऊसरखेत्ते वविदं सुबीयसमं जाण सव्वणुाणं ॥78॥

अन्वयार्थ : समस्त परिग्रहों से विरत शिष्य भी गुरु-भक्ति से रहित हों तो उनकासमस्त अनुठान (व्यवहार चारित्र) उसी प्रकार (निरर्थक) है, जिस प्रकार ऊषर खेत मेंबोया गया अच्छा भी बीज (निरर्थक) होता है॥78॥

रज्जं् पहाणहीणं पतिहीणं देसगामरठ्ठबलं ।

गुरुभत्तिहीण-सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥79॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार प्रधान (राजा) के बिना राज्य और सेनापति के बिनादेश, गाँव, राष्ट्र व सैन्य-बल नष्ट (असुरक्षित व शक्तिहीन) हो जाते हैं, उसी प्रकार गुरु-भक्ति से हीन शिष्य का (समस्त) अनुठान नष्ट (निरर्थक) हो जाता है ॥79॥

सम्मत्त विणा रुई भत्ति विणा दाणं दया विणा धम्मं ।

गुरुभत्ति विणा तवगुणचारित्तं णिप्फलं जाण ॥80॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व के बिना रुचि (श्रद्धा) को, भक्ति के बिना दान को, दया के बिना धर्म कोऔर (उसी तरह) गुरु-भक्ति के बिना तप, गुण (मूलगुणादि) व चारित्र को निष्फल जानें ॥80॥

हीणादाणवियारविहीणादो बाहिरक्खसोक्खं हि ।

किं तजियं किं भजियं, किं मोक्खं ण दिठ्ठं जिणुद्दिठ्ठं ॥81॥

अन्वयार्थ : चूँकि (अज्ञानी) जीव के हेय व उपादेय के विवेक का अभाव होताहै, इसलिए (जीव) बाह्य पदार्थों में सुख मानता है । वह नहीं जानता कि क्या त्याज्य है,क्या सेवनीय है और मोक्ष क्या है । ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥81॥

कायकिलेसुववासं दुद्धरतवयरणकारणं जाण ।

तं णियसुद्धप्परुई-परिपुण्णं चेदि कम्म णिम्मूलं ॥82॥

अन्वयार्थ : कायक्लेश व उपवास । ये दुर्धर (घोर) तपश्चरण के कारण हैं ।और निज शुद्धात्मा के प्रति रुचि से परिपूर्ण (युक्त व्यक्ति का) कर्म निर्मूल (नष्ट) होजाता है । यह जानो ॥82॥

कम्म ण खवेदि परबह्म ण जाणदि सम्म-उम्मुक्को ।

अत्थ ण तत्थ ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करमदि ॥83॥

अन्वयार्थ : जो सम्यग्दर्शन से रहित है और परब्रह्म (परमात्मा) को नहीं जानता,वह कर्म का क्षय नहीं करता । वह न यहाँ का है और न वहाँ का (उसका यह लोक भीबिगड़ा और परलोक भी) । वह (द्रव्य) लिङ्ग को धारण करके (भी) क्या करेगा? ॥83॥

अप्पाणं पि ण पेच्छदि ण मुणदि ण वि सद्दहदि ण भावेदि ।

बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करमदि? ॥84॥

अन्वयार्थ : जो (जीव) आत्मा का निरीक्षण नहीं करता, न ही आत्मा को जानताहै, न ही श्रद्धान करता है और भावना भी नहीं भाता, तो फिर वह अत्यन्त दु:ख-भार केकारण द्रव्यलिङ्ग को धारण करके (भी) क्या करेगा? ॥84॥

जाव ण जाणदि अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव ।

तेण अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥85॥

अन्वयार्थ : जब तक यह आत्मा स्वयं (के शुद्ध स्वरूप) को नहीं जान लेता,तभी तक उसके दु:ख रहता है । अत: योगी को चाहिए कि वह अनन्तसुख स्वरूपी आत्माकी भावना (चिन्तन-मननादि) करता रहे ॥85॥

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।

सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि णियमेण ॥86॥

अन्वयार्थ : आत्म-तत्त्व की प्राप्ति (प्रतीति आदि) के बिना नियमत: सम्यक्त्वकी उपलब्धि नहीं हो पाती । सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना नियमत: निर्वाण प्राप्त नहींहोता ॥86॥

सालविहीणो राओ दाणदयाधम्मरहिदगिहिसोहा ।

णाणविहीण तवो वि य जीव विणा देहसोहं व ॥87॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार दुर्ग के बिना राजा की, दान व दया धर्म से रहित गृहस्थकी, तथा जीव (चैतन्य) के बिना देह की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान (निर्विकारस्वसंवेदन) के बिना तप भी शोभा प्राप्त नहीं करता ॥87॥

मक्खी सिलिम्मि पडिदो मुवदि जहा तह परिग्गहे पडिदो ।

लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥88॥

अन्वयार्थ : जैसे कफ में गिर कर मक्खी मर जाती है, वैसे ही परिग्रह में आसक्त,लोभी, मूढ़, अज्ञानी मुनि भी शारीरिक कष्टों में ही अपना जीवन गवाँ देता है ॥88॥

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणदे किं पि ।

झाणं तस्स ण होदि हु ताव ण कम्मं खवेदि ण हु मोक्खं ॥89॥

अन्वयार्थ : (सम्यक्) ज्ञान के अभ्यास से रहित जीव स्व (आत्म तत्त्व) व पर(आत्मेतर) तत्त्व को कुछ भी नहीं जानता, और आत्म-ध्यान भी उसके निश्चित ही नहींहोता, और जब तक ऐसा होता है तब तक न तो उसका कर्मक्षय होता है और न ही मोक्षमिलता है ॥89॥

अज्झयणमेव झाणं पंचेन्दिय णिग्गहं कसायं पि ।

तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जहो ॥90॥

अन्वयार्थ : (वर्तमान) पंचम काल में अध्ययन ही ध्यान है । इस से पाँचों इन्द्रियोंव कषायों का निग्रह भी होता है । इसलिए प्रवचन (जैन सिद्धान्त) के सारभूत (तत्त्व)का अभ्यास करना ही चाहिए ॥90॥

पावारम्भणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि ।

णाणं धम्मज्झाणं जिणभणिदं सव्वजीवाणं ॥91॥

अन्वयार्थ : पाप-आरम्भ (हिंसादि कार्य) से निवृत्ति का और पुण्य-कार्य मेंप्रवृत्ति करने का तथा (सम्यक्) ज्ञान रूप धर्मध्यान का (उपदेश रूप) कथन सभी जीवोंके लिए भगवान् जिनेन्द्र ने किया है ॥91॥

सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि सम्मं ण होदि तवयरणं ।

कुव्वंतो मूढमदी संसारसुहाणुरत्तो सो ॥92॥

अन्वयार्थ : श्रुत (शास्त्र) का ज्ञानाभ्यास जो नहीं करता, उसका तपश्चरणसमीचीन (यथार्थ) नहीं होता । (क्योंकि) वह (तब) तपश्चरण

करता हुआ भी सांसारिकसुख में अनुरक्त होता है ॥92॥
तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणासहावजुदो ।
अणवरयं धम्मकहापसंगओ होदि मुणिराओ ॥93॥
अन्वयार्थ : मुनिवर तत्त्व का चिन्तन-मनन करने वाले होते हैं, मोक्षमार्ग की आराधनाकरते रहने का भी उनका स्वभाव हुआ करता है, और उनके धर्मकथा का व्यसन रहा करता है ॥93॥
विकहादिविप्पमुक्को आहाकम्मादिविरहिदो णाणी ।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई ॥94॥
अन्वयार्थ : वे योगी (मुनिराज) विकथा आदि से मुक्त रहते हैं, अध:कर्म आदि(दोषपूर्ण) क्रियाओं से रहित होते हैं, धर्मोपदेश देने में कुशल होते हैं, और बारह अनुप्रेक्षाओंकी भावना (चिन्तन) में निरत रहते हैं ॥94॥
णिंदावंचणदूरो, परिसहउवसग्गदुक्ख सहमाणो ।
सुहझाणज्झयणरदो गयसंगो होदि मुणिराओ ॥95॥
अन्वयार्थ : वे (दूसरों की) निन्दा व वंचना (ठगने की प्रवृत्ति) से दूर रहा करते हैं, परीषह वउपसर्ग के दु:खों को सहन करने वाले होते हैं, शुभ ध्यान व स्वाध्याय में निरत रहते हैं, ऐसेपरिग्रह-रहित मुनिराज होते हैं ॥95॥
अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो ।
णिम्मलसहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥96॥
अन्वयार्थ : जो निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व, निर्मोही, निष्कलंक, स्थिरस्वभावी एवं निर्मल स्वभाव सेयुक्त होता है, वह मुनिराज व योगी होता है ॥96॥
तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो ।
सव्वण्हुवदेसे सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेदि ॥97॥
अन्वयार्थ : तीव्र कायक्लेश करता हुआ भी (यदि जीवात्मा) मिथ्यात्व भाव सेयुक्त होता है तो वह निर्वाण-सुख को प्राप्त नहीं करता । ऐसा सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश में(निर्दिष्ट) है ॥97॥
रायादिमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सदे किं पि ।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सदे जहा तहा णेयं ॥98॥
अन्वयार्थ : राग (एवं मिथ्यात्व) आदि मल से युक्त जीवों को निज आत्म-स्वरूपकुछ भी दिखाई नहीं देता, जैसे मलिन दर्पण में रूप दिखाई नहीं देता, उसी तरह (इसे)समझना चाहिए ॥98॥
दंडत्तय सल्लत्तय मंडिदमाणो असूयगो साहू ।
भंडणजायणसीलो हिंडदि सो दीहसंसारम ॥99॥
अन्वयार्थ : तीन दण्डों (मन-वचन-काय का असंयम) व तीन शल्यों (माया,मिथ्यात्व, निदान) से युक्त, अभिमान से पूर्ण, ईर्ष्यालु, तथा कलह व याचना के स्वभाववाला जो साधु होता है, वह दीर्घ संसार में भटकता रहता है ॥99॥
देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
आदसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥100॥
अन्वयार्थ : जो शरीर आदि में अनुरक्त हैं, विषयों में आसक्त हैं, कषाय से युक्त हैंऔर आत्म-स्वभाव में सोये हुए (रुचिहीन या प्रमादी) हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित (ही)हैं ॥100॥
आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंखिया तहासूया ।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा ॥101॥
संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहिदगुरुकुला मूढा ।
रायादिसेवया ते जिणधम्मविराहया साहू ॥102॥

अन्वयार्थ : जो साधु आरम्भ (व्यापार आदि) में, धन-धान्य में तथा उपकरण मेंआकांक्षा (विशेष चाह) रखते हैं, जो ईर्ष्यालु हैं, जो व्रत, गुण व शील से रहित हैं, जोकषाय व कलहों में प्रीति रखते हैं, जो वाचाल हैं, संघ में विरोध करने का जिनका स्वभावहै, जो स्वच्छन्द (अमर्यादित) हैं, जो गुरु-कुल में नहीं रहते, जो मूढ़ (मोहग्रस्त हैं), और जोराजा आदि के सेवक हैं, वे जैन धर्म की विराधना करने वाले हैं ॥101-102॥

जोइसवेज्जमंतोवजीवणं वायवस्स ववहारं ।
धणधण्णपरिग्गहणं समणाणं दूसणं होदि ॥103॥

अन्वयार्थ : जो ज्योतिष विद्या, मन्त्र-विद्या द्वारा जीविका चलाना, वातविकारसे ग्रस्त (भूत-प्रेतादि से आविष्ट की चिकित्सा करने) का व्यापार करना, धन-धान्य कापरिग्रह करना । ये श्रमण के दूषण हैं ॥103॥

जे पावारंभरदा कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्म-उम्मुक्का ॥104॥

अन्वयार्थ : जो साधु पाप कार्यों में संलग्न रहते हैं, कषायों से युक्त हैं, परिग्रह मेंआसक्त हैं, और लोक-व्यवहार में अधिक संलग्न हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं ॥104॥

ण सहंति इदरदप्पं थुवंति अप्पाणमप्पमाहप्पं ।
जिब्भणिमित्तं कुणंति कज्जं् ते साहु सम्म-उम्मुक्का ॥105॥

अन्वयार्थ : जो दूसरम के बड़प्पन को सहन नहीं करते और स्वयं का एवं अपनेमहत्त्व का ही (स्तुति) गुणगान करते हैं, तथा अपनी जिउीा (रसास्वाद) के लिए प्रयत्नशीलरहते हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं ॥105॥

चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जदे मुणिं दिट्ठा ।
जह तह पाविट्ठो सो धम्मिठ्ठं सगीयठ्ठो ॥106॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार चर्म, अस्थि व मांस का लोभी कुत्ता मुनि को देखकरभोंकता है, उसी प्रकार (सम्यक्त्वरहित) वह पापी अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखकर किसीधर्मात्मा को देखकर भोंकता है । विपरीत भाषण करता है ॥106॥

भुंजेदि जहालाहं जदि णाणसंजमणिमित्तं ।
झाणज्झयणणिमित्तं अणयारो मोक्खमग्गरदो ॥107॥

अन्वयार्थ : यदि यथायोग्य थोड़ा-बहुत (आहार आदि) जो मिल जाता है तोमोक्षमार्ग में स्थित अनगार (साधु) अपने ज्ञान व संयम की आराधना के लिए या ध्यान वअध्ययन की सिद्धि के लिए (ही) उसका सेवन (भोग) करता है ॥107॥

उदरग्गिसमनमक्खमक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं ॥
णाऊण तप्पयारम णिच्चेवं भुंजदे भिक्खू ॥108॥

अन्वयार्थ : (1) उदराग्नि का शमन, (2) इन्द्रियों को स्नेह से स्निग्ध करना, (3) गोचरी(गौ की तरह चारा खाना), (4) पेट के गड्ढे को मात्र भरना, (5) भौंरम की तरह (बिनाकिसी को कष्ट दिये) थोड़ा-थोड़ा लेना । इन (भिक्षा के पाँच) प्रकारों को जानकर नित्यही साधु आहार-ग्रहण किया करता है ॥108॥

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुइचम्ममयमणिच्चमचेदणं पडणं ॥109 ॥

अन्वयार्थ : इस शरीर में रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, शुक्र, मल, मूत्र, पीव वकृमि की बहुलता है, वह दुर्गन्धित, अपवित्र, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन व पतनशीलभी है ॥109॥

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहं ।
तं देहं धम्माणुाणकारणं चेदि पोसदे भिक्खू ॥110॥

अन्वयार्थ : वह अनेक दु:खों का पात्र है, कर्मों (कर्मबन्धन) का कारण है, और वह आत्मा सेभिन्न (पृथक्) है । चूँकि वह शरीर भी धर्म-सेवन का कारण (बन सकता) है, (मात्र)इसलिए भिक्षु उसका पोषण (आहारादि द्वारा) करता है॥110 ॥

संजमतवझाणज्झयणविणाणए गिण्हदे पडिगहणं ।
वज्जदि गिण्हदि भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ॥111 ॥

अन्वयार्थ : मुनि संयम, तप, ध्यान, अध्ययन (स्वाध्याय) एवं भेदविज्ञान (कीसिद्धि) के लिए आहार ग्रहण करते हैं । यदि इस (प्रयोजन) को वे छोड़ते हैं और (आहार)लेते हैं तो वे दु:ख को छोड़ नहीं सकते (कभी वह दु:ख-मुक्त नहीं हो पाते) ॥111॥

कोहेण य कलहेण य जायण सीलेण संकिलिसेण ।
रुद्देण य रोसेण य भुंजदि किं विंतरो भिक्खू ॥112॥

अन्वयार्थ : क्रोध, कलह, याचनाशीलता, संक्लेश, रौद्र व रोष परिणाम के साथ यदि (कोई)आहार ग्रहण करम तो क्या वह भिक्षु है? वह (तो) व्यन्तर है ॥112॥

दिव्वुत्तरणसरिच्छं जाणिच्चाहो धरमदि जदि सुद्धो ।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगदपिंडं ॥113॥

अन्वयार्थ : हे मुने! तुम्हारम (अपने) हाथों में रखा हुआ आहार (पिण्ड) अग्नि मेंतपाये हुए लोहे के पिण्ड की तरह यदि शुद्ध (व निर्दोष) है, तो उसे दिव्य नौका की तरहजान कर ग्रहण करो ॥113॥

अविरद-देस-महव्वय-आगमरुइणं वियारतच्चण्हं ।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिठ्ठं जिणवरिंदेहिं ॥114॥

अन्वयार्थ : अविरति, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचि, तत्त्वविचारक । इस प्रकारसे जिनेन्द्र देव ने हजारों पृथक्-पृथक् 'पात्र' बताये हैं ॥114॥

उवसमणिरीहझाणज्झयणादिमहागुणा जहा दिठ्ठा ।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥115॥

अन्वयार्थ : जैसे जिनमें उपशम (समता) भाव, निरीहता (नि:स्पृहता), ध्यान वअध्ययन आदि महान् गुण दृष्टिगोचर होते हैं, तदनुरूप वे मुनिनाथ उत्तम पात्र कहे गये हैं ॥115॥

ण वि जाणदि जिणसिद्ध सरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणदि तवं सो हिंडदि दीहसंसारम ॥116॥

अन्वयार्थ : जो जीवात्मा जिनेन्द्र देव व सिद्ध परमेठी के स्वरूप को तथा अपनीआत्मा को उसके (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा । इन) तीन भेदों के साथ नहीं जानताहै, वह (भले ही) तीव्र तप करम, किन्तु दीर्घ संसार में भ्रमण करता (भटकता) रहता है ॥116॥

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिस्सल्लो ।
पत्तविसेसो भणिदो सो गुणहीणो दु विवरीदो ॥117॥

अन्वयार्थ : निर्दोष सम्यग्दर्शन वाले, धर्मध्यान में रत, परिग्रह से रहित, (तीन)शल्यों से रहित । (इन्हें) विशेष पात्र कहा गया है । जो इन गुणों से हीन है, वह विपरीतयानी अपात्र होता है ॥117॥

सम्मादिगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिठ्ठं ।
तं जाणिऊण देदि सुदाणं जो सो हु मोक्खरदो ॥118॥

अन्वयार्थ : जिसमें सम्यक्त्व आदि विशेष गुण हैं, उसे जिनेन्द्र देव ने विशेष पात्र कहा है । इसप्रकार जान कर जो सुदान देता है, वही निश्चय से मोक्षमार्ग में रत है ॥118॥

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणदि सो ।
जं कीरदि तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिठ्ठं ॥119॥

अन्वयार्थ : जो रत्नत्रय को निश्चय व व्यवहार । इन (दो) स्वरूपों से नहीं जानताहै, वह जो कुछ भी (आचरण) करता है, वह सब मिथ्यारूप (निष्प्रयोजन) होता है, ऐसाजिनेन्द्र देव ने कहा है ॥119॥

किं जाणिदूण सयलं, तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं ।

सम्मविसोहिविहीणं, णाण तवं जाण भवबीयं ॥120॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण तत्त्वों को जानकर (भी) तथा तपस्या से भी (आखिर)क्या ज्यादा (लाभ) होने वाला है? (क्योंकि) सम्यक्त्व की शुद्धि नहीं हो तो ज्ञान व तपको संसार का बीज (ही) समझो ॥120॥

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं ।

झाणज्झयणं सव्वं सम्म विणा जाण भवबीयं ॥121॥

अन्वयार्थ : व्रत, गुण, शील, परीषह-जय, चारित्र, तप, षडावश्यक, ध्यान वअध्ययन । ये सभी सम्यक्त्व के बिना संसार के कारण हैं ॥ 121॥

खाई-पूया-लाहं सक्काराइं किमिच्छसे जोई ।

इच्छसि जदा परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोयं ॥122॥

अन्वयार्थ : हे योगी! यदि परलोक को (सुधारना) चाहते हो तो कीर्ति, पूजा,लाभ, सत्कार आदि की चाह क्यों करते हो? (उन सब से) क्या तुम्हारा परलोक (अच्छा)होने वाला है? (अर्थात् नहीं होने वाला है ।) ॥122॥

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविदूण भावेण ।

णियसुद्धप्पा रुच्चदि तस्स य णियमेण होदि णिव्वाणं ॥123॥

अन्वयार्थ : जो मुनि कर्म-जनित विभाव और स्वभाव एवं गुण की भावपूर्वकभावना (बार-बार चिन्तन आदि) करता है, तथा निज शुद्धात्मा में रुचि रखता है, उसकोनियम से निर्वाण प्राप्त होता है ॥123॥

मूलुत्तरुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को ।

आसवबंधसंवरणिज्ज्र जाणेदि किं बहुणा ॥124॥

अन्वयार्थ : जो आस्रव, बन्ध , संवर व निर्जरा तत्त्वों को जानता है, वह कर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ, उत्तरोत्तर द्रव्यकर्म व भावकर्म । इनसे मुक्त होता है(मुक्ति प्राप्त करता है या स्वयं को 'शुद्ध' मुक्त समझता है) ॥124॥

विसयविरत्तो मुच्चदि विसयासत्तो ण मुच्चदे जोई ।

बहिरंतरपरमप्पाभेदं जाणाहि किं बहुणा ॥125॥

अन्वयार्थ : विषयों से विरक्त योगी मुक्त होता है और विषयों में आसक्त मुक्त नहींहोता । (इसलिए) बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा के भेदों को जानो (और विषयों सेविरक्त हो जाओ), और अधिक कहने से क्या लाभ? ॥125॥

णिय-अप्पणाणझाणज्झयणसुहामियरसायणं पाणं ।

मोत्तूणक्खाण सुहं जो भुंजदि सो हु बहिरप्पा ॥126॥

अन्वयार्थ : जो निज आत्मा के ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूपी अमृत-तुल्य रसायनके पान को छोड़ कर, इन्द्रियों के सुख को भोगता है, वह निश्चय ही 'बहिरात्मा' है ॥126॥

किम्पायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिंदवारुणसोहं ।

जिव्हसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं पि ॥127॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार पका हुआ किम्पाक फल, विषमिश्रित लड्डू और इन्द्रायण फल । येदेखने में सुन्दर होते हैं और जीभ को भी सुख देते हैं (किन्तु परिणाम में दु:खदायी होते हैं),उसी प्रकार इन्द्रिय-सुखों को भी जानें ॥127॥

देह कलत्तं पुत्तं मित्तादि विहावचेदणारूवं ।

अप्पसरूवं भावदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा ॥128॥

अन्वयार्थ : जो जीव शरीर, पत्नी, पुत्र, मित्र आदि को, तथा विभाव-चेतना (राग-द्वेष आदि) को आत्मस्वरूप मानता (उस रूप में भावना करता) है, वह 'बहिरात्मा' हीहोता है ॥128॥

इंदियविसयसुहादिसु मूढमदी रमदि ण लहदि तच्चं ।

बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा ॥129॥

अन्वयार्थ : जो अज्ञानी जीव इन्द्रिय-विषयों के सुख में रम जाता है और यह विचार नहीं करताकि ये इन्द्रिय-विषय बहुत दु:खदायी हैं और जो तत्त्व को भी ग्रहण नहीं कर पाता, वह'बहिरात्मा' ही होता है ॥129॥

जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करमदि बहुदुक्खं ।
अप्पाणमिदि ण चिंतदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा ॥130॥

अन्वयार्थ : जो-जो भी इन्द्रिय-सुख है, वह-वह आत्मा को तीव्र व अनेक प्रकार के दु:ख देताहै । इस प्रकार जो विचार नहीं करता, वह 'बहिरात्मा' ही होता है ॥130॥

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेदि तत्थ रुई ।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय-विसएसु होदि मदी ॥131॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार अमेध्य (अपवित्र विठा आदि) में उत्पन्न होने वाले(कीड़े) की उसी (विठा) में रुचि होती है, उसी प्रकार बहिरात्मा की बुद्धि बाह्य इन्द्रियविषयों में (ही) होती है ॥131॥

पूयसूयरसाणाणं खारामियभक्खभक्खणाणं पि ।
मणुजाइ जहा मज्झे बहिरप्पाणं तहा णेयं ॥132॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार, मनुष्य जाति अखाद्य व स्वादयोग्य पदार्थों का (भेदज्ञान रूपी) विवेकतथा क्षार व अमृत एवं भक्ष्य व अभक्ष्य का ज्ञान (विवेक) नहीं रखती, उसी प्रकार बहिरात्माको उन (बाह्य इन्द्रिय-विषयों) के मध्य विवेक नहीं होता । यह जानना चाहिए ॥132॥

सिविणे वि ण भुंजदि विसयाइं देहादिभिण्णभावमदी ।
भुंजदि णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥133॥

अन्वयार्थ : जो स्वप्न में भी विषयों का सेवन नहीं करता है और शरीर आदि सेभिन्न अपनी आत्मा को मानता है, तथा जो मोक्ष-सुख में लीन अपनी आत्मा का अनुभवकरता है, वह मध्यम आत्मा (अन्तरात्मा) होता है ॥133॥

मलमुत्तघडव्व चिरंवासिद दुव्वासणं ण मुंचेदि ।
पक्खालिदसम्मत्तजलो य णाणमियेण पुण्णो वि ॥134॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार मल-मूत्र का घड़ा चिरकाल से दुर्गन्धित होने के कारणअपनी दुर्वासना (दुर्गन्ध) को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी जल से धोने पर भीज्ञानामृत से पूर्ण यह आत्मा दुर्वासना को नहीं छोड़ पाती ॥134॥

सम्मादिठ्ठी णाणी अक्खाण सुहं कहं पि अणुहवदि ।
केणावि ण परिहरणं वाहीण विणासणठ्ठ भेसज्जं ॥135॥

अन्वयार्थ : जो सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी है, वह किसी प्रकार (परवश होकर, अनिच्छासे) इन्द्रियों के सुख का अनुभव उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई भी (रोगी) रोगदूर करने के लिए औषधि नहीं छोड़ता ॥135॥

किं बहुणा हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥136॥

अन्वयार्थ : अधिक क्या कहें? हे भव्य! बहिरात्म-स्वरूप सभी भावों को छोड़ोऔर अन्तरात्मा व परमात्मा के वस्तुस्वरूप (यथार्थ) भावों को भजो (अंगीकार करो) ॥136॥

चदुगदिसंसारगमणकारणभूदाणि दुक्खहेदूणि ।
ताणि हवे बहिरप्पा, वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥137॥

अन्वयार्थ : वस्तु-स्वरूप से सम्बन्धित जो भी भाव बहिरात्मारूप (अर्थात्बहिरात्मा के) होते हैं, वे चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण के (ही) कारण हैं और दु:ख केहेतु हैं ॥137॥

मोक्खगदिगमणकारणभूदाणि पसत्थपुण्णहेदूणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा, वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥138॥

अन्वयार्थ : द्विविध (अन्तरात्मा व परमात्मा) आत्मा के वस्तुस्वरूप-सम्बन्धीजो भाव हैं, वे (क्रमश:) प्रशस्त पुण्य के तथा मोक्ष-गति में

गमन के कारण होते हैं ॥138॥

दव्वगुणपज्ज्एहिं जाणदि परसगसमयादिविभेदं ।

अप्पाणं जाणदि सो सिवगदिपहणायगो होदि ॥139॥

अन्वयार्थ : जो द्रव्य, गुण व पर्यायों के साथ तथा पर समय व स्वसमय । इनभेदों के साथ आत्मा को जानता है, वह (ही) शिव (मोक्ष) गति के मार्ग का नायक(अग्रणी) होता है ॥139॥

बहिरंतरप्पभेदं परसमयं भण्णदे जिणिंदेहिं ।

परमप्पा सगसमयं, तब्भेदं जाण गुणठाणे ॥140॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र भगवान् ने बहिरात्मा व अन्तरात्मा । इन दोनों भेदों को 'परसमय'कहा है । परमात्मा 'स्वसमय' है । इनके भेद (अन्तर) को गुणस्थानों की दृष्टि से जानें ॥140॥

मिस्सो त्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्प जहण्णो ।

सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा ॥141॥

अन्वयार्थ : मिश्र (तीसरम गुणस्थान) तक 'बहिरात्मा' होते हैं, चौथे (गुणस्थान) में'जघन्य अन्तरात्मा' होते हैं, (इसके आगे) सात (अर्थात् पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थान) तकतरतमता के साथ 'मध्यम अन्तरात्मा' होते हैं, और क्षीण (बारहवें गुणस्थान) में उत्तम अन्तरात्मा,एवं उससे आगे (तेरहवें-चौदहवें) गुणस्थानों में जिनेन्द्र व सिद्ध परम यानी 'परमात्मा' होते हैं ॥141॥

मूढत्तय-सल्लत्तय-दोसत्तय-दंड-गारवत्तयेहिं ।

परिमुक्को जोई सो, सिवगदिपहणायगो होदि ॥142॥

अन्वयार्थ : जो योगी तीन मूढ़ताओं, तीन शल्यों, तीन दोषों, तीन दण्डों एवं तीनगारवों से मुक्त रहता है, वह शिवगति (मोक्ष) के पथ का नायक होता है ॥142॥

रयणत्तय-करणत्तय-जोगत्तय-गुत्तिव्य-विसुद्धेहिं ।

संजुत्तो जोई सो सिवगदिपहणायगो होदि ॥143॥

अन्वयार्थ : जो योगी रत्नत्रय, तीन करण, तीन योग, तीन गुप्ति, इनकी विशुद्धि से युक्त होताहै, वह शिवगति (मोक्ष) के मार्ग का नायक होता है ॥143॥

जिणलिंगहरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ।

परमोवेक्खाइरियो सिवगदिपहणायगो होदि ॥144॥

अन्वयार्थ : जो योगी जिन-मुद्रा का धारक है, वैराग्य व सम्यक्त्व से सम्पन्न है, ज्ञानी है, तथापरमोपेक्षाभाव को प्राप्त है, वह शिवगति (मोक्ष) के मार्ग का नायक होता है ॥144॥

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोपओयसंजुत्तो ।

मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगदिपहणायगो होदि ॥145॥

अन्वयार्थ : जो बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त है, शुद्धोपयोग वाला है, तथा मूल गुणों वउत्तर गुणों से परिपूर्ण है, वह शिवगति (मोक्ष) के मार्ग का नायक होता है ॥145॥

जं जादिजरामरणं दुहदु विसाहिविसविणासयरं ।

सिवसुहलाहं सम्मं संभावदि सुणदि साहदे साहू ॥146॥

अन्वयार्थ : जो जन्म, बुढ़ापा मृत्यु एवं दु:ख रूपी दुष्ट सर्प के विष का नाश करनेवाला है, और मोक्ष-सुख का लाभ कराता है, उसी सम्यक्त्व की साधु भावना करता है,उसे ही सुनता है और उसी को साधता है ॥146॥

किं बहुणा हो देविंदाहिंदणरिंदगणहरिंदेहिं ।

पुज्ज परमप्पा जे, तं जाण पहाण सम्मगुणं ॥147॥

अन्वयार्थ : अहो! अधिक क्या कहें, जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरमन्द्र औरगणधरमन्द्रों से पूजित हैं, उनमें सम्यक्त्वगुण (रत्न) की

प्रधानता (महत्ता) है । यह जानें ॥147॥

उवसम्मइ सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लदे तस्स ।

परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणी कालदोसेण ॥148॥

अन्वयार्थ : अवसर्पिणी काल के दोष से मिथ्यात्व की प्रबलता से उपशम सम्यक्त्वनष्ट हो जाता है, फिर कषाय पुन: उत्पन्न हो जाती हैं ॥148॥

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं जलगालणं अणत्थमियं ।

दंसण-णाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिदा ॥149॥

अन्वयार्थ : (आठ मूल) गुण, (बारह) व्रत, (बारह) तप, समता भाव, (ग्यारह)प्रतिमाएँ, (चार) दान, जलगालन (पानी छानकर पीना), रात्रिभोजन त्याग, सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र । ये (कुल मिलाकर) तिरमपन क्रियाएँ श्रावकों की कही गई हैं ॥149॥

णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।

णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्ज ॥150॥

अन्वयार्थ : ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, और ध्यान से समस्त कर्मों कीनिर्जरा होती है । निर्जरा का फल मोक्ष है, इसलिए ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए ॥150॥

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो ।

सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ॥151॥

अन्वयार्थ : कुशल साधक को तप की सिद्धि हो जाती है, निपुण साधक कोसंयम और शमभावी (शान्तस्वभावी) को वैराग्य हो जाता है, किन्तु श्रुत की भावना (बारम्बारअभ्यास) से ये तीनों सध जाते हैं, इसलिए श्रुतभावना करनी चाहिए ॥151॥

कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरूवेण पंचसंसारम ।

हिंडदि ण लहदि सम्मं संसारब्भमणपारंभो ॥152॥

अन्वयार्थ : (यह जीव) मिथ्यात्व स्वरूप होने से अनन्त काल तक पञ्च परावर्तनरूप संसार में भ्रमण करता है । यह (जीव) सम्यक्त्व नहीं प्राप्त करता है, अत: उसकासंसार-भ्रमण होता रहता है ॥152॥

सम्मद्दंसण सुद्धं जाव दु लभदे हि ताव सुही ।

सम्मद्दंसण सुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही ॥153॥

अन्वयार्थ : जब तक यह जीव शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त करता, तब तक (ही)दु:खी रहता है । किन्तु जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, तब सुखी हो जाता है ॥153॥

किं बहुणा, वयणेण दु, सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा ।

सम्मत्तेण वि जुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु ॥154॥

अन्वयार्थ : अधिक क्या कहें, सम्यक्त्व के बिना तो सब दु:ख ही दु:ख है, और सम्यक्त्व सेयुक्त सभी सुख रूप ही है । ऐसा निश्चित जानो ॥154॥

णिक्खेव-णय-पमाणं सद्दालंकार-छंद लहियाणं ।

णाडयपुराण कम्मं सम्म विणा दीहसंसारं ॥155॥

अन्वयार्थ : निक्षेप, नय, प्रमाण, शब्दालङ्कार, छन्द, नाटक, पुराण । इन्हें (ज्ञान से) अधिगतकिया और क्रियाएँ भी कीं, किन्तु सम्यक्त्व के बिना (वे) संसार के (ही) कारण रही हैं ॥155॥

वसदि-पडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंघजादिकुले ।

सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुदजादे कप्पडे पुत्थे ॥156॥

अन्वयार्थ : कोई श्रमण वसतिका (बस्ती, निवास), प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, शास्त्र,संघ, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, छात्र, पुत्र-प्रपौत्र, वस्त्र, पुस्तक, पिच्छी, संस्तर (चटाई,बिछावन), ॥156॥

पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणदि ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं, ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ॥157॥
अन्वयार्थ : इनमें, तथा इच्छाओं में, लोभवश (जब तक) ममत्व करता है, और जब तक उसेआर्त या रौद्र ध्यान रहता है, तब तक वह मुक्त नहीं होता और न ही उसे सुख मिलता है ॥157॥
रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुणसंघादो समओ खलु णिम्मलो अप्पा ॥158॥
अन्वयार्थ : रत्नत्रय ही 'गण' है और मोक्षमार्ग में गमन ही 'गच्छ' है, गुणों कासमूह ही 'संघ' है, और निर्मल आत्मा ही 'समय' है ॥158॥
मिहिरो महंधयारं मरुदो मेहं महावणं दाहो ।
वज्जे गिरि जहा विणसिज्जिद सम्मं तहा कम्मं ॥159॥
अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन कर्म को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अत्यन्तघने अन्धकार को, वायु मेघ को, अग्नि महावन को तथा वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है ॥159॥
मिच्छंधयाररहिदं हियमज्झं सम्मरयणदीवकलावं ।
जो पज्ज्लदि स दीसदि, सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं ॥160॥
अन्वयार्थ : जो मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से रहित अपने हृदय में सम्यक्त्व रत्नरूपी दीप-समूह (दीपावली) को प्रज्वलित करता है, वह तीनों लोकों को भलीभांति देखताहै (देखने में सक्षम होता है) ॥160॥
कतकफलभरियणिम्मल जलं ववगयकालिया सुवण्णं च ।
मलरहियसम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥161॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार निर्मली (कतक) डालने से जल निर्मल हो जाता है,(आग से) सुवर्ण की कालिमा दूर हो जाती है, उसी प्रकार निर्दोष सम्यक्त्व से युक्त श्रेठभव्य प्राणी शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है ॥161॥
पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं जाण ।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणे हि मोक्खसुहं ॥162॥
अन्वयार्थ : प्रवचन-सार (शुद्धात्म-स्वरूप) का अभ्यास परमात्मा के ध्यान काकारण है । ऐसा जानें । वह (ध्यान) कर्म-क्षय का कारण है और कर्म-क्षय होने पर निश्चितरूप से मोक्ष-सुख मिलता है ॥162॥
धम्मज्झाणब्भासं करमदि तिविहेण भावसुद्धेण ।
परमप्पझाणचेट्ठो तेणेव खवेदि कम्माणि ॥163॥
अन्वयार्थ : जो (साधक) त्रिविध (मन, वचन व काय की) भाव-शुद्धि के साथ धर्मध्यानका अभ्यास करता है, और परमात्म-ध्यान में स्थित हो जाता है एवं उसी से कर्मों का क्षय कर देता है ॥163॥
अदिसोहणजोएण सुद्धं हेमं हवेदि जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥164॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार अतिशोधन क्रिया द्वारा स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसीतरह काल-लब्धि आदि के द्वारा आत्मा परमात्मा हो जाता है ॥164॥
कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परसं ।
लद्धो भुंजदि सोक्खं जहच्छिदं जाण तह सम्मं ॥165॥
अन्वयार्थ : जिस प्रकार कामधेनु, कल्पतरु, चिन्तामणि रत्न, रसायन वपारसमणि को प्राप्त कर व्यक्ति यथेच्छित सौख्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व कोभी (यथेच्छ सुखदायी) जानो ॥165॥
सम्म णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं ।
गुणसीलसहावं तह उप्पज्जिद रयणसारमिणं ॥166॥

अन्वयार्थ : यह 'रयणसार' ग्रन्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तपोभाव, निरीहवृत्ति, चारित्र तथा गुण, शील व आत्म-स्वभाव को उत्पन्न करता है ॥166॥

गंथमिणं जिणदिठ्ठं ण हु, मण्णदि ण हु सुणेदि ण हु पढदि ।

ण हु चिंददि ण हु भावदि सो चेव हवेदि कुद्दिठ्ठी ॥167॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट (कथित) इस ग्रन्थ के अर्थ को जो नहीं मानता,नहीं सुनता, नहीं पढ़ता, नहीं चिन्तन करता और न ही भावना करता है, वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टिहै ॥167॥

इदि सज्ज्णपरिपुज्ज् रयणसारगंथं णिरालसो णिच्चं ।

जो पढदि सुणदि भावदि सो पावदि सासदं ठाणं ॥168॥

अन्वयार्थ : जो व्यक्ति सज्ज्नों के द्वारा आदरणीय इस 'रयणसार' ग्रन्थ कोआलस्यहीन (प्रमादरहित) होकर नित्य पढ़ता है, सुनता है, मनन-चिन्तन करता है, वहशाश्वत (मोक्ष) स्थान को प्राप्त करता है ॥168॥

ण लहइ जायणसीले, ण संकिलेस्सेण रुद्देण ।

रागेण य रोसेण य, भुंजइ किं तवेंतरो भिक्खू ॥

अन्वयार्थ : हे भिक्षु! याचनाशील होकर आहार ग्रहण करते हो, और संक्लेश(मायालोभादि परिणाम), रौद्र भाव, राग भाव या रोष भाव के साथ जो आहार ग्रहण करते हो। ऐसा करना तुम्हारा क्या व्यन्तर जैसा नहीं है? ॥169॥